समय की शिला पर

डॉ. गौरी त्रिपाठी

स्वनिम के पिछले अंकों को पाठकों ने जिस उत्साह से अपनाया है और जो प्रतिक्रियाएं हमें मिली हैं, वह हमारे लिए काफी आश्वस्तिपरक है। हमें विश्वास है कि समय के साथ स्वनिम न सिर्फ गुरु घासीदास विश्वविद्यालय के हिंदी विभाग की सर्जनातक सक्रियता का ही आईना बनेगा, अपितु विश्वविद्यालय के समस्त विभागों की रचनात्मक संभावनाओं को आत्मसात करते हुए तमाम विश्वविद्यालयों की विभागीय पत्रिकाओं में अपनी उपस्थिति का दस्तावेजी स्वरूप जरूर बरकरार रखेगी।

स्वनिम के इस अंक में हमने धरोहर के लिए अज्ञेय की कहानी "रोज़" का चयन किया है। पहले यह कहानी गैंग्रीन नाम से प्रकाशित हुई थी। बाद में अज्ञेय ने इसका नाम बदल कर रोज़ कर दिया। किसी भी रचना के बहुत पहले से उसकी रचना प्रक्रिया शुरू हो जाती है, और रचना के पूरी हो जाने के बाद भी वह पूरी तरह कभी खत्म नहीं होती। इसका उदाहरण है इस कहानी का नाम परिवर्तन।

क्या शीर्षक के बदल जाने से कहानी के भीतर कुछ बदल जाया करता है? शीर्षक का क्या महत्त्व होता है कहानी के लिए? अगर गैंग्रीन के बरक्स इसे पढ़ते हैं तो तो यह कहानी पहाड़ी जीवन की एक आम लेकिन दुरूह समस्या पर लिखी गई कहानी लगती है। दूर से देखने पर जो पहाड़ हमें रोमांचित करते हैं। वहां का यथार्थ यह है कि लोग एक मामूली कांटा चुभने पर गैंग्रीन जैसी भयंकर बीमारी के शिकार हो जाते हैं। उनका पैर काट दिया जाता है। लेकिन जब हम रोज़ शीर्षक के बरक्स इसी कहानी को पढ़ते हैं तो यह स्त्री जीवन के ऊब और अवसाद की कहानी लगने लगती है। मालती के माध्यम से रोज़ कहानी भारतीय लड़कियों की त्रासद कथा का बयान करती स्त्री-जीवन की ऊब, नीरसता और ठहराव के ही दुहराव की कहानी लगती है। घर की नटखट लड़की का स्त्री होना वैसे ही है जैसे किसी चंचल और नटखट नदी का थके उदास और ठहरे तालाब में बदल जाना। कहीं कोई तरंग नहीं। एक ही दिनचर्या का रोज दुहराव। तो क्या शीर्षक किसी रचना के पाठ की संभावना को अलग आयाम देता है? इस दृष्टि से भी यह कहानी पढ़ी जानी चाहिए। कहानी के केंद्र में मालती है। मालती में असंख्य भारतीय स्त्रियों की कहानी की असंख्य परतें खुलती और फिर बिना किसी आहट, बिना किसी सिसकी के चुपचाप बन्द हो जाती हैं।

50 के दशक में स्त्री चरित्रों के माध्यम से एक निस्पंद उदासी का कांपता, थरथराता वातावरण हिंदी कहानी के भीतर बार-बार दिखाई देता है। जैसा कि इस कहानी में भी है, वैसे ही परिंदे की लतिका या कृष्णा सोबती की बादलों के घेरे, या मोहन राकेश की कहानी मिसपाल, सबमें पहाड़ी कस्बे का लोकेल, चीड़ के दरख़्त, जमीन पर बिखरी सूखी पत्तियों की मर्मर। कभी-कभी तो ऐसा लगता है कि हिंदी का नयी कहानी आंदोलन किसी सैलानी का दृष्टि विस्तार है। इसके अलावा अन्य सभी स्थायी स्तंभों के साथ ही जिजीवीयन की ताजा कलम की बानगी।

इस अंक में हम अपने कुलपति प्रोफेसर आलोक चक्रवाल जी की कुछ कविताओं को अंक की विशेष उपलब्धि के रूप में प्रकाशित कर रहे हैं। इन कविताओं से गुजरते हुए आपको सहज ही लगेगा कि- "लोग हैं लागि कवित्त बनावत, मोहिं तो मेरे कवित्त बनावँ।"

आशा है हमारी यह कोशिश आपके लिए एक बार फिर संग्रहणीय होगी।